वेदान्त
श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
149.90954
Raj-Dik

देश के सार्वजनिक जीवन में इस पुस्तक के लेखक श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का प्रमुख स्थान सर्व-विदित है। उनका दावा है कि वेदान्त और उससे विकसित संस्कृति तथा नीतिशास्त्र संयोजित जीवन-व्यवस्था का दृढ़ आध्यात्मिक आधार बन सकते हैं। व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता तथा जंगल के न्याय पर आधारित वर्तमान अराजकतापूर्ण जीवन-व्यवस्था के स्थान पर संयोजित व्यवस्था की प्रतिष्ठा अनिवार्य भी है। इस पुस्तक को पूर्व-ग्रहों से विरत होकर पढ़नेवाले और सामान्य हित के उद्देश्य से वैयक्तिक जीवन को नियमित करने की समस्याओं पर विचार करनेवाले पाठक देखेंगे कि इस दावे को अस्वीकार करना कठिन है। नई व्यवस्था सन्निकट है और, राजाजी के कथनानुसार, जबतक हमारे पास आध्यात्मिक मूल्यों का शासन और अन्दर से नियमों का कार्य करने वाली संस्कृति न होगी तब तक केवल भौतिक संयोजन और बाह्य विधान का परिणाम भ्रष्टाचार और प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ न होगा। यह विषय केवल बौद्धिक नहीं है। व्यावहारिक महत्व के तात्कालिक प्रश्नों से इसका घनिष्ठ संबंध है। इस पुस्तक में, जो कतिपय उपनिषदों के समान छोटी और सरल है, राजाजी ने ऋषियों के ज्ञान को अपने बहुमूल्य अनुभवों के परिपक्व निष्कर्षों के साथ मिलाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। जिन्होंने

वेदान्त

भारत की मूल संस्कृति

लेखक

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अनुवादक

श्री सीताचरण दीक्षित

हिन्दुस्तान टाइम्स

नई दिल्ली

प्रक

.OG

OGICA

कागज का आवरण : एक रुपया
कपड़े की जिल्द : दो रुपये

विषय-सूची

अध्याय १

वेदान्त और नई जीवन-व्यवस्था

सत्य एक और अविच्छेद्य है; अतएव विज्ञान, धर्म और राजनीति में सन्निविष्ट विरोधी भाव सामाजिक हित को हानि पहुँचाये बिना नहीं रह सकते। मूल्यों की विभिन्नता संशय, कलह, पाखंड और पराजय का भाव उत्पन्न करती है। उसमें निहित मानव-प्रयत्नों का अपव्यय हम सहन नहीं कर सकते। प्रकृति के जिस विधान को हम जानते हैं, जिस धर्म पर हम विश्वास करते हैं और जिस राजनीति का हम व्यवहार करते हैं, उन सबको परस्पर अनुकूल और सुसंगत बनाना चाहिए। यदि हममें सत्य पर सच्ची श्रद्धा और मानव-सभ्यता के पुरातन स्रष्टाओं के साहस और पुरुषार्थ का कुछ भी अंश है, तो हमें इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए।

जो वस्तु विज्ञान के नाम से सिखाई जाती है और सत्य के नाम से पूर्णतया स्वीकार कर ली जाती है, उसे धर्म में भुला देने की अपेक्षा है। इतना ही नहीं, धर्म में जिस श्रद्धा को पवित्र और अनुल्लंघनीय माना जाता है उसे राजनीतिक कार्यों से अलग रखने और उनमें कोई योगदान न करने देने की अपेक्षा की जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार की आत्मप्रवंचना का आश्रय लेते हैं और संतति को वंशानुवंश जारी रखने के विचारपूर्ण उद्देश्य से अपनी संतति के साथ कपटाचार करते हैं। विरोधी विचारों का—भले ही वह सद्भावपूर्ण हो—एक साथ स्वीकार किया जाना कल्याणकर नहीं हो सकता। असत्य का पुरस्कार

आध्यात्मिक मृत्यु है। स्त्रियों और पुरुषों ही प्रगति के मुख्य साधन हैं, परन्तु उनका निरंतर क्षय किया जा रहा है। समग्र मानव जाति अथवा व्यक्ति-विशेष के लिए यह हितकर कैसे हो सकता है?

प्राचीन काल में इतना विरोध-भाव नहीं था। इसका एक कारण यह था कि उस समय विज्ञान की इतनी प्रगति नहीं हुई थी। धर्म और दर्शन के उत्साहपूर्ण अनुसरण से विसंगति उत्पन्न नहीं होती थी, वरन् मनुष्य बड़ी बड़ी सफलताएं प्राप्त करते थे। यह इसलिए संभव हुआ कि उन्होंने परस्पर विरोधी सिद्धांतों पर विश्वास करने का प्रयत्न नहीं किया। अब विज्ञान का विकास हो गया है और उसे पहले से बहुत बड़े प्रमाण में स्वीकार कर लिया गया है। इसी के फलस्वरूप विसंगति का दोष अधिक गंभीर हो उठा है।

धर्म और राजनीतिक प्रवृत्तियों का पारस्परिक विरोध विज्ञान और धर्म के पारस्परिक विरोध से भी बड़ा है। यह एक चमत्कार है कि प्रामाणिक ईसाई वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रवृत्तियों के बीच अपने मन को स्वस्थ रखते हैं। ईसा की वाणी के रूप में जो पढ़ा और पढ़ाया जाता है, उसका पूर्ण उल्लंघन करने के लिए शासनतंत्र अनुमति, सहायता और उत्तेजना देता है। निर्मम प्रतिद्वंद्विता का साम्राज्य, दूसरों को हानि पहुंचाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करने का अधिकार और प्राप्त सुविधाओं का ऐसा उपयोग जिससे कि मनुष्य और मनुष्य के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाये—ईसा का सर्वथा अस्वीकार है। फिर भी, इस प्रकार की ईसाई धर्म विरोधी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए शासन-तंत्र से अधिकार प्राप्त करके उसके संरक्षण के अन्तर्गत बड़ी बड़ी संस्थाएं स्थापित की जाती हैं, जिनका गिरजाघरों

और मठों के ... आदर होता है। इस मिथ्याचार के भार से सभ्यता का भवन ढहे बिना नहीं रह सकता। जो व्यक्ति-विशेष प्रस्तुत व्यवस्था के विरुद्ध अपने विचार तो प्रकट करते हैं, परन्तु उसमें प्रभावोत्पादक ढंग से हस्तक्षेप नहीं करते, उनका विरोध आरंभ में भले ही सहायक मालूम हो, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं; वह यदि अपराध के लिए एक प्रकार की उत्तेजना नहीं तो पलायनवाद अवश्य है।

स्पष्ट है कि जो भी धर्म अथवा दर्शन आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल होगा वह पाखंड और दंभ बन कर रह जायेगा। यदि हम मानव-प्रगति का दृढ़ आधार सुरक्षित रखना चाहते हैं तो विज्ञान और धर्म तथा राजनीति और धर्म के बीच की समस्त विसंगति का अन्त किया जाना चाहिए, जिससे समन्वित विचार और भावनाओं की प्रतिष्ठा हो सके। भारत में एक धर्ममूलक दर्शन प्रस्तुत है, जो स्वयं सभ्यता के समान पुरातन है। वह विज्ञान के असाधारणतः अनुकूल है, यद्यपि विदेशियों को यह दावा विलक्षण प्रतीत हो सकता है। उस धर्ममूलक दर्शन से एक नीतिशास्त्र विकसित हुआ है, जो अधिक न्यायपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का दृढ़ आध्यात्मिक आधार बनने योग्य है। यह एक असाधारण बात है कि विकास के सिद्धांत का और नियम के शासन का—जिस रूप में उसे वैज्ञानिक मानते हैं—निरूपण हिन्दू धर्म में पहले ही कर दिया गया था। वेदान्त का परमात्मा मनुष्य की कल्पना द्वारा उत्पन्न और मानव-रूप-आरोपित परमात्मा नहीं है। गीता में ईश्वर के प्रभुत्व की व्याख्या ऐसी भाषा में की गई है, जिसमें आधुनिक विज्ञान द्वारा धार्मिक विश्वोत्पत्तिशास्त्र के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का अनुमान और समाधान निहित है। परमात्मा का प्रभुत्व कारण और कार्य के अपरिवर्तनीय विधान में और

उसके द्वारा, प्राकृतिक नियमों के द्वारा, सब क्षेत्रों में कार्यान्वित होता है।

"सब चराचर सृष्टि मुझ में स्थित है और फिर भी यह आश्चर्य देख कि मैं उससे अलग हूं और प्रकृति अकेली काम करती रहती है। प्रकृति ही, मेरे हस्तक्षेप के बिना, चर और अचर सृष्टि को उत्पन्न करती है।"*

उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होगा कि वेदान्त में यह ग्रहीत मान कर कि विश्व का विकास आदितत्व में निहित शक्ति के क्रमिक विकास से हुआ है, आधुनिक विज्ञान के सिद्धांत पहले से ही प्रतिपादित कर दिये गये हैं। वास्तव में हिन्दू धर्म-दर्शन अन्य सब धर्मों की विचारधाराओं की अपेक्षा प्रकृति-विज्ञान तथा भौतिक शास्त्र की विकास-संबंधी और आणविक उपपत्तियों के अधिक निकट है। उपनिषदों की प्रधान विशेषता यह है कि उनमें सत्य की भक्ति और अविराम गवेषणा का आग्रह किया गया है। यह वैज्ञानिक अनुसंधान से भिन्न है।

लाभ के उद्देश्य और पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता की तथाकथित नागरिक स्वतंत्रता के स्थान पर संयोजित सहकारी अर्थ-व्यवस्था बाह्य अधिकार पर अवलम्बित होकर सुरक्षित नहीं रह सकती—चाहे वह अधिकार कितना ही महान क्यों न हो। उसके लिए आन्तरिक रूप में कानून का काम करनेवाली संस्कृति तथा आध्यात्मिक मूल्यों के सर्व-मान्य नियम आवश्यक हैं। ऐसे आध्यात्मिक नियंत्रण के बिना केवल भौतिक संयोजन का अंत व्यापक भ्रष्टाचार और प्रवंचना में होना अनिवार्य है। वेदान्त और उससे प्रसूत नीतिशास्त्र, जिसका

---

* गीता ९—८–१०

भगवद्गीता में विशद विवेचन किया गया है, संयोजित सह-कारी समाज-जीवन का आध्यात्मिक आधार बनने के पूर्ण उपयुक्त हैं। उस जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और आवश्यकता के अनुसार पायेगा।

व्यक्तिगत लाभ का उद्देश्य रखे बिना, केवल समाज के हित की दृष्टि से काम करना ही भगवद्गीता में जीवन का मार्ग बताया गया है। यह सब कामों की समान प्रतिष्ठा और पवित्रता पर तथा निर्लिप्त होकर और परिणाम से उद्विग्न हुए बिना सचाई के साथ कर्म करने पर जोर देती है। वास्तव में गीता एक अनोखी रीति से धार्मिक रूप में समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन करती है। गीता बताती है कि अपने नियत कर्मों को करना अधिकतम सच्चे अर्थ में ईश्वर की उपासना करने से तनिक भी कम नहीं है।*

हमें आवश्यकता इसकी है कि, निजी उद्योग में शासन-तंत्र की निर्हस्तक्षेपी नीति और निजी लाभ उपार्जित करने के दैवी अधिकार के बदले जन-साधारण के हित की दृष्टि से व्यक्तियों और समूहों में बुद्धिमत्तापूर्वक काम का बंटवारा किया जावे। यदि हम चाहते हैं कि समाज व्यक्तिगत जीवन का नियंत्रण करे और उसका उपर्युक्त परिणाम हो, तो हम केवल गुप्तचरों और पुलिस पर अवलम्बित नहीं रह सकते, कि वे नागरिकों की निगरानी करते रहें। हमें आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करना होगा, जिससे कर्त्तव्य-पालन में आनन्द होता है, जो अन्दर से नियम का काम करता है और जिससे शासन-तंत्र द्वारा निर्धारित नियमों का पालन सरल हो जाता है। वेदान्त में भारत की स्मरणातीत परम्पराओं में ओतप्रोत एक ऐसी शिक्षा उपलब्ध

* गीता १८—४५–४६।

है, जो नई और अधिक न्यायपूर्ण जीवन-व्यवस्था का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार बन सकती है।

वेदान्त और वेदान्त-सम्मत जीवन-पद्धति क्या है? आगे के पृष्ठों में इसे संक्षेप में तथा यथासंभव सरल शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया गया है। इससे पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि यहां उपस्थित किया हुआ दावा सही है अथवा नहीं।

अध्याय २

वेदान्त का स्रोत

"समस्त संसार मेरे विरुद्ध खड़ा हो जाये; कलंक और उपहास की मुझ पर वर्षा हो; मेरी समस्त मूल्यवान सम्पत्ति चली जाये और मैं अपनी जीविका के लिए द्वार द्वार अलख जगाता फिरूं; मेरे मित्र ही मेरे विरुद्ध हो जायें और मेरे भोजन में विष मिला दें; घातक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित और व्यूहबद्ध अनेक मनुष्य मुझ पर आक्रमण करें; स्वयं आकाश टूट कर मेरे सिर पर गिर पड़े—मेरे हृदय में कोई, कोई भय नहीं है"—इस प्रकार का गीत तमिल कवि भारती ने वेदान्त से उत्पन्न होनेवाली निर्भयता को लक्ष्य कर के गाया है। वेदान्त भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत है। वह भूतकाल में उसका मूल स्रोत रहा है और अब भी है। भारत के स्त्री-पुरुषों ने जिस साहस, शौर्य, आत्मबलिदान और महानता का परिचय दिया, वह सब-का-सब वेदों के दर्शनशास्त्र, वेदान्त से प्रवाहित हुआ। अब भी वेदान्त ही भारतीयों का जीवित-जाग्रत भाव और उनकी प्रतिभा है। विदेशी सभ्यता अथवा नई महत्वाकांक्षाओं का हम पर कितना भी प्रभाव पड़े, हमारे मुख्य स्रोत में सड़न उत्पन्न नहीं हुई। धनी और निर्धनों के, अवकाशभोगी वर्गों और किसानों तथा मजदूरों के, हिन्दुओं और मुसलमानों तथा ईसाइयों के, अशिक्षितों और विद्वानों के, ईमानदारी और बेईमानों के जीवन भारतीय दर्शन के व्यापक सौरभ से एक समान सुरभित हैं। वेदान्त भारत की मूल संस्कृति है।

उपनिषद् वेदान्त के स्रोत हैं। प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन

करते समय हमें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वे कल ही लिखे हुए ग्रंथों के समान होंगे। जब वे लिखे गये थे उस समय संसार, यह देश और मनुष्यों का जीवन तथा आदर्श आज से बहुत भिन्न थीं। हमें इस भारी अन्तर को भूल कर हजारों वर्ष पूर्व लिखित ग्रंथों का अर्थ और निर्णय आधुनिक विचारों की दृष्टि से नहीं करना चाहिए। उस काल में लिखित पुस्तकों का संबंध तत्कालीन जीवन के विषयों से ही हो सकता है। हमें अपनी कल्पना और बुद्धि से उस प्राचीन जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहिए और भारतीय ऋषियों के लिखे हुए ग्रन्थों को, यद्यपि वह अब आधुनिक कागज पर आधुनिक ढंग से छाप दिये गये हैं, उसी प्राचीन भूमिका के आधार पर पढ़ना चाहिए।

उपनिषदों की मुख्य शिक्षा यह है: मनुष्य इंद्रिय-सुख, सम्पत्ति तथा संसार के पदार्थों से, अथवा वेदों द्वारा नियत यज्ञादि कर्मों से—जिनकी शक्ति पर उस काल में पूर्ण विश्वास किया जाता था—स्वर्गादि के अधिक बड़े सुख प्राप्त कर लेने पर भी, स्थायी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सुख केवल मुक्ति से, और मुक्ति केवल आध्यात्मिक ज्ञान से प्राप्त हो सकती है, जो कर्म-बंधनों को तोड़कर हमें परमात्मा के साथ मिला देता है।

ज्ञान के मार्ग में अनेक मंजिलें हैं। उपनिषदों के मंत्र यत्र-तत्र परस्पर-विरोधी दिखलाई पड़ सकते हैं। परन्तु यदि यह स्मरण रखा गया कि सत्य की शिक्षा क्रम-क्रम से दी जाती है तो यह विरोधाभास तिरोहित हो जायेगा। जब उपनिषद् लिखे गये उस समय मौखिक शिक्षा के अतिरिक्त, जिसे शिष्य गुरु के निकट साहचर्य में रहकर प्राप्त करता था, अन्य किसी प्रकार की शिक्षा का प्रचार नहीं था। पुस्तकालय से लेकर

अथवा दुकान से खरीद कर पुस्तकें पढ़ना उस समय संभव नहीं था ।

वेदान्त में शिव अथवा विष्णु की उपासना के पृथक् पंथ नहीं हैं । कौन बड़ा देव है या किस नाम से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए—इन प्रश्नों का विवाद वेदान्त में नहीं पाया जाता । शंकराचार्य ने अपने वेदान्त-भाष्य में परमात्मा के लिए 'नारायण' नाम का प्रयोग किया है । शैव-सिद्धांत के ग्रंथों में परमतत्त्व को 'शिव' कहा गया है । नाम, ध्यान के लिए परमेश्वर के रूप की कल्पनाएं, पूजा की मूर्तियां और "ॐ" की ध्वनि भी हमारे हृदय को ईश्वर के प्रति आकर्षित करने के साधन-मात्र हैं । वेदान्त हम सब भारतीयों की—चाहे हम किसी भी धर्म में पालित-पोषित क्यों न हुए हों—पारम्परिक सामान्य सम्पत्ति है ।

अध्याय ३

पहली सीढ़ी

वेदान्त यह शिक्षा नहीं देता कि हमें संसार का त्याग करना चाहिए। जीवन तथा सामाजिक कार्यों से निवृत्त होने के साथ वेदान्त की संगति बैठाना गलत है। वेदान्त आसक्ति, कामनाओं और मनोविकारों के त्याग की प्रेरणा देता है, परन्तु गृहकार्य जीवन में दैनिक कर्तव्यों के त्याग की नहीं।* वेदान्त हमें आत्मशक्ति प्रदान करता है, जिससे हम स्वार्थपरता, अहंभाव, सुख के प्रति आसक्ति और दुःख के प्रति भय से निवृत्त हो सकते हैं और अपना जीवन अपने कर्तव्यों को कुशलतापूर्वक करने में लगा सकते हैं। वेदान्त से हम सत्यमय जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न में निश्चय और निर्भयता का विकास कर सकते हैं।

इस दृढ़ विश्वास पर पहुंचना वेदान्त की पहली सीढ़ी है कि "मैं" "अपने शरीर" से बिल्कुल भिन्न हूं। क्या ऐसी कोई स्पष्ट वस्तु है, जिसे शरीर के अन्दर "आत्मा" कहा जा सके? क्या वह भौतिक शरीर से बिल्कुल अलग है, या शरीर का धर्ममात्र है, जिसे हम गलती से पृथक् वस्तु मानते हैं? क्या शरीर की मृत्यु होने पर उसके साथ आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है या उसका पृथक् अस्तित्व कायम रहता है? इस विषय में दृढ़ विश्वास का अभाव ही संसार की सब बुराइयों का परम कारण है। यदि कभी हमारी शंकाओं का

---

* गीता ३—२०—२१।

समाधान हो जाता है, तो भी वे बार बार उठती हैं और हमें घेरे रहती हैं। मनुष्य का जीवन तभी अविचल सत्यमय और अनासक्त होता है, जब वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मेरे अन्तर् में आत्मा का निवास है और वह शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न है। यदि सब मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त कर लें तो संसार का उद्धार हो जायेगा।

आत्मा संबंधी यह प्रथम ज्ञान महत्वपूर्ण है। इसीलिए उपनिषदों में न केवल परमात्मा की चर्चा है, वरन् बारंबार और अनेक तथा विविध प्रकारों से जीवात्मा की भी चर्चा की गई है। यदि एक बार अनुभव कर लिया गया कि शरीर उसके अन्दर निवास करनेवाले जीवात्मा से भिन्न है, और इस संबंध में सारे संशय मिट गये, तो वेदान्त-सम्मत जीवन स्वयमेव विकसित हो जायेगा।

अध्याय ४

अच्छा जीवन

हमें अपने अन्तरतम में छिपे हुए आत्मा को देखना चाहिए। यहां "देखने" का अर्थ संशय का पूर्ण निवारण और सत्य की पूर्ण अनुभूति है। आत्मा को "देखने" के लिए बुद्धि और जिज्ञासा पर्याप्त नहीं है। जीवन की साधुता और पवित्रता आवश्यक है।*

सन्त और पापी को दीवार या पहाड़ी समान रूप से दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार ज्यामिति के प्रमेय में सत्य भी दिखलाई पड़ता है। फिर आत्मा को देखने के लिए आत्मसंयम और मानसिक समत्व की आवश्यकता क्यों है? ज्ञान के लिए गुरु का मार्गदर्शन और प्रतिवेदन आवश्यक हो सकता है; चरित्र के दोषों से उसका क्या संबंध? इसी प्रश्न का उत्तर वेदान्त के सबसे महत्वपूर्ण अंग का संघटक है।

आत्मा शरीर के स्थूल अंगों अथवा इन्द्रियों के समान नहीं है। वह शरीर के किसी विशेष भाग में स्थित भी नहीं है। वह स्थूल शरीर और मन में ओतप्रोत है। जब तक मन स्वच्छ नहीं है, वह उससे अलग नहीं मालूम होगा और न ज्ञात ही होगा। किसी बाह्य वस्तु को देखना एक बात है, परन्तु शरीर के अन्दर छिपे हुए और उसमें ओतप्रोत आत्मा को देखना बिल्कुल भिन्न है। आत्म-निरीक्षण से हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते हैं, परन्तु आत्मा को देखने के लिए न

---

* कठोपनिषद् २—२३,२४।

केवल अपनी आंखों को अन्दर की ओर घुमाने, वरन् मन को स्थिर तथा विकाररहित करने की भी आवश्यकता होती है। पवित्रता और अलिप्तता के बिना माध्यम मलिन रहता है और उसके पृष्ठ की वस्तु दिखलाई नहीं पड़ सकती। हमारी दृष्टि को अंध बनानेवाला अज्ञान नहीं होता, कामनाएं और आसक्तियां होती हैं। इस सत्य का अनुभव कर लेने पर ज्ञात हो जायगा कि अन्तर्निहित आत्मा के साक्षात्कार के लिए सदाचारी जीवन तथा पवित्र हृदय की आवश्यकता क्यों होती है। तब यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि वेदान्त के श्रद्धाप्रेरित भाष्यों में जिन तीन मार्गों को सामान्यतः भिन्न माना गया है, वह सब एक ही हैं। इन मार्गों को ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग कहा जाता है।

सो, अपने अन्तर्निहित आत्मा का शरीर से भिन्न रूप में साक्षात्कार करने के लिए मन और आत्मा पर उचित नियंत्रण करना आवश्यक है। हमारी बुद्धि विकार तथा कामनाजन्य मोह से मुक्त होनी ही चाहिए। निरन्तर सावधान रहने से मन और इंद्रियों पर ज्ञान का नियंत्रण हुए बिना रह नहीं सकता।* इस स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न 'योग' कहलाता है। यह नाम तो बहुधा लिया जाता है, परन्तु इसका अर्थ बहुत गलत समझा जाता है। यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाये, तो हम अपने अन्तर्निहित आत्मा को 'देख' सकते हैं। आत्म-संयम और आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न होनेवाली मन की स्थिति को सावधानी से कायम रखने की आवश्यकता होती है। 'योग' कहलानेवाली मन की यह स्थिति सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समान बार बार उदित तथा अस्तंगत होती है। योग का मार्ग

---

* कठोपनिषद् ४—१,२।

निरंतर साधना और अभंग सतर्कता है; अन्यथा, हम फिर से पहली अवस्था में पहुंच जाते हैं और हमारा आत्मा शरीर में खो जाता है और हम पहले के समान एक को दूसरा समझने लगते हैं।

अध्याय ५

विकास

छान्दोग्य उपनिषद् का छठा अध्याय इस पुरानी पहेली से प्रारम्भ होता है : क्या कोई आदि कारण था ? क्या यह देख कर कि कारणों की गवेषणा हमें उनकी एक अनन्त शृंखला में पीछे ले जाती है, हम कारण का सिद्धांत ही छोड़ दें और कहने लगें कि जगत् शून्य से ही उत्पन्न हुआ है ?

ऋषि का कथन है—यह नहीं हो सकता । शून्यसे शून्य ही निकल सकता है। असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए, हमें मानना ही पड़ेगा कि कारणरहित प्रारंभ में आदिकारण सत्, अर्थात् चिन्मय परमात्मा, अवश्य था। और सत् ने विस्तार की इच्छा की और वह प्रकाश, जल तथा अन्य जीवधारियों के रूप में परिणत हो गया। ये जीवधारी एक दूसरे के आहार हैं और बढ़ते तथा बहुगुणित होते रहते हैं। सत् ही अब भी बहुगुणित और विस्तृत हो रहा है।

श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक से, जो उसे शिक्षा दे रहे थे, पूछा : "यह बहुसंख्य, विविधतामय, विशाल विश्व इतनी सरल रीति से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?"

"उस न्यग्रोध वृक्ष का एक फल ले आओ"—उद्दालक ने कहा। "यह लीजिये"—श्वेतकेतु बोला। "उसे फोड़ो; उसके अन्दर तुम्हें क्या दिखलाई पड़ता है ?" "छोटे छोटे कुछ बीज"—श्वेतकेतु ने उत्तर दिया। "एक बीज को फोड़ो"—पिता ने कहा। "फोड़ दिया, भगवन् !" "उसमें क्या दिखलाई देता है ?" "कुछ नहीं"—श्वेतकेतु ने उत्तर दिया।

"इस छोटे से बीज की जिस अणिमा को तुम नहीं देखते उसमें ही इस विशाल न्यग्रोध वृक्ष का अस्तित्व था। तुम्हें इस पर आश्चर्य होता है ? इसी के समान, इस विश्व में जो कुछ भी है वह सब सत् में था; जो, सोम्य, तुम भी हो । इस पर विचार करो ।"

मुंडक उपनिषद्* में ऋषि कहते हैं :

"समस्त जगत् आदिपुरुष का विराट् स्वरूप है । सूर्य, चंद्र, दिशाएं, सम्पूर्ण ज्ञान और सब प्राणियों के आत्मा एकमेव, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के अंश और उसके प्रत्यक्षीकरण हैं । सम्पूर्ण प्राणशक्ति, समस्त गुण, स्वाभाविक कार्य तथा विहित कर्म उसी एक शक्ति के स्वरूप हैं । उसने सूर्य को प्रज्वलित किया; इसीलिए सूर्य समिधा के समान जलता रहता है और हमें उष्णता तथा प्रकाश प्रदान करता है । मेघ स्वयं वर्षा नहीं करते, वरन् आदिकारण-रूप परमात्मा ही मेघों के द्वारा बरसता है। प्राणियों का संयोग होता है और वे बहु-गुणित होते हैं; परन्तु उनके द्वारा आदिकारण ही बहु-गुणित होता है । पर्वत, समुद्र, नदियां, वृक्ष, ओषधियां और उनके प्राणदायी तत्त्व—सब उसी सर्वव्यापी और अन्तर्यामी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। सोम्य, इसे जान और अपनी अज्ञान-ग्रंथि को खोल।"

---

* मुंडकोपनिषद् २—४,५,९,१० ।

अध्याय ६

माया

हमने वेदान्तियों को कहते सुना है कि यह जगत् मिथ्या है। इसका अर्थ यह नहीं कि जगत् सत्य नहीं है। वह सत्य है। ब्रह्म और माया के संबंध में उपदेश देनेवाले सब आचार्यों ने अपना जीवन इस आधार पर ही व्यतीत किया है कि, जगत् सत्य है। दुर्बलों और पाखंडियों को छोड़कर, जो एक बात सिखाते हैं और दूसरी पर आचरण करते हैं, यदि हम सत्य के प्रकाश में जीवन बितानेवाले वस्तुतः साधु और महान् वेदान्तियों के प्रत्यक्ष जीवन पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उन्होंने इस जगत्, जीवन और कर्म-विधान को कठोर तथ्य माना है। यदि इस पर भी उन्होंने शिक्षा दी कि सब कुछ मिथ्या है, तो इस उपदेश का अर्थ क्या है ?

जब कहा जाता है कि परमात्मा ही सब कुछ है, तो अर्थ यह होता है कि वह अन्तर्निवासी चैतन्य है, जो सब प्राणियों को जीवित रखता है। जिस तरह शरीर के लिए आत्मा है, उसी तरह परमात्मा सब आत्माओं का आत्मा है। जब कोई कहता है, 'मैं गया', 'मैं आया', 'मैंने किया', तो वह बाह्य रूप से शरीर का काम होता है; परन्तु यथार्थ में वह सब अन्तर्निवासी देही का काम है, जो सब कर्म कराता है। शरीर को कर्ता मानना गलत होगा। इसी प्रकार, परमात्मा हमारे आत्माओं का आत्मा है। जीवात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति परमात्मा की प्रवृत्ति है। सब आत्माओं को उसका शरीर कहा जा सकता है। परमात्मा सत्य है और, इसी प्रकार, उसमें ओतप्रोत आत्मा

भी सत्य हैं। शरीर भी सत्य है, यद्यपि अन्तर्निवासी चैतन्य ही उसे जीवन प्रदान करता है। एक कदम और आगे जायें तो, जो जीवात्माओं को प्राण और वास्तविकता प्रदान करता है और उन्हें जो-कुछ वे हैं सो बनाता है, वह परमात्मा है। परमात्मा सब जीवात्माओं में ओतप्रोत रहता है और उनका धारण करता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवात्मा असत्य है। विश्व अपने समग्र रूप में, और प्रत्येक जड़ तथा चेतन अलग-अलग, सर्वव्यापी परमात्मा का शरीर है।

मायावाद का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तु असत्य है और हम अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए स्वतंत्र हैं। जीवन सत्य है और वह अविकारी, सनातन नियम के अधीन है। यह, न कि असत्य, वेदान्त के सिद्धांत का सच्चा तात्पर्य है।

अध्याय ७

सब में एक ही जीवन

सो, शरीर के अन्दर आत्मा, जो उसे जीवन से परि-पुरित रखता है और आत्मा के अन्दर परमात्मा, जो उसमें ओतप्रोत रहकर उसे अस्तित्व प्रदान करता है—यही वेदान्त के अनुसार जीवन की रचना है। जिस प्रकार आत्मा शरीर को व्यक्ति के रूप में काम करने का सामर्थ्य देता है, उसी प्रकार परमात्मा आत्मा को जीवात्मा के रूप में काम करने की क्षमता प्रदान करता है।

एक ही आत्मा भिन्न भिन्न जीवनों में अनेक शरीर धारण करता है। ऐसा करने में उसे अतीत की स्मृति या अपने सच्चे स्वभाव का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने तत्कालीन शरीर के साथ पूर्णतया एक हो जाता है। इसी प्रकार, एक साथ ही परमात्मा का निवास बननेवाले सब आत्मा परमात्मा को नहीं पहचानते और वह इस भांति प्रवृत्त रहते हैं, मानो सब एक-दूसरे से पृथक हों। यद्यपि अन्तरात्मा एक ही है, प्रत्येक आत्मा पृथक् व्यक्तित्व का जीवन व्यतीत करता है और उसे दूसरों के साथ एकता का भान नहीं रहता। यही माया है। प्रत्येक विद्वान् और निरक्षर में, वीर और कायर में, बली और निर्बल में, प्रतापी और दीन में तथा सब प्राणियों के समुदाय में परमात्मा ही निवास करता है और उन्हें जो-कुछ वे हैं, बनाता है। हमारा अन्तर्निवासी आत्मा हमारी काम-नाओं, अन्यमनस्कता, सुख और दुःख के कारण हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। आत्मा हमारी बुद्धि के बिलकुल परे

हो जाता है। यद्यपि वह अपवित्रता की राशि के बीच में छिपा रहता है, फिर भी उस अपवित्रता का धब्बा उस पर नहीं लगता। यदि मन को एकाग्र, इंद्रियों को नियंत्रित और हृदय को बाह्य वस्तुओं से पृथक् कर लिया जाय, तो अपवित्र चेतना पवित्र हो जाती है और हम आत्मा को शरीर से एक भिन्न और सच्ची वस्तु के रूप में देखने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, हम आत्मा के अन्दर निवास करनेवाले दिव्य आत्मा को भी देखेंगे। जब यह पूर्णतया अनुभव कर लिया जाता है कि परमात्मा ही सबके अन्दर रहता और सब काम करता है तब सुख और दुःख का लोप हो जाता है।

सूर्य-प्रकाश का कोई आकार नहीं होता। वह सब दिशाओं में समान रूप से फैलता है। छाया का आकार होता है। छाया प्रकाश में अवरोध होने से पड़ती है। यदि मर्यादा या अवरोध न हो तो प्रकाश सर्वत्र समान रूप से फैलता है। जीवात्मा परमात्मा के अनन्त प्रकाश के मार्ग की छाया है। जैसे ही अवरोध दूर हो जाता है, छाया प्रकाश में मिल जाती है। कर्म छायाएं उत्पन्न करता है, जो पृथक् जन्म और जीवन हैं। परमात्मा प्रकाश है। छाया जीवात्मा के अनुरूप आकार ग्रहण करती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि वेदान्त माया और मिथ्या की विचारधारा है। सूर्य-प्रकाश के कारण बनी हुई छाया मिथ्या नहीं है। वह प्रकाश के समान ही सत्य है, यद्यपि यह यथार्थ है कि परिवर्तनशील छाया का निर्माण प्रकाश से ही होता है।

अध्याय ८

मोक्ष

मोक्ष जीवात्मा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार है। वह किसी दूसरे लोक अथवा स्थान में पहुंचना नहीं है। इस ज्ञान से मन के प्रकाशित हो जाने पर कि, जीवात्मा और अन्तर्निवासी परमात्मा एक ही हैं, छाया प्रकाश में विलीन हो जाती है। यही मोक्ष है। समस्त भेदभाव को मिटाना और यह पहचानना ही मोक्ष है कि, हमारे आसपास का सब कुछ परमात्मा का अधिष्ठान है। संस्कृत में मोक्ष शब्द का अर्थ केवल छुटकारा है। मोक्ष एक अवस्था है। वह कोई स्थान, भवन, उद्यान अथवा लोक नहीं है। इसीलिए तमिल सन्त ने गाया है :

"सत्य-पथ की यात्रा करने से परिशुद्ध हो जाने पर, इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके चित्त को असीम ब्रह्म के ध्यान में लीन कर देने पर, सब सुख और दुःख छिन्न हो जाते हैं; और आसक्ति नष्ट हो जाती है। यही स्वर्ग है। यही स्वर्ग का आनन्द है।

"ज्ञान प्राप्त करके, सब आसक्तियां त्यागकर, यदि कोई निश्चिन्त होकर सम-चित्त बन जाता है, तो वही मुक्ति है। वही परमानन्द है।

"इसे न जानकर संसार अज्ञानपूर्वक पूछता है—'स्वर्ग कहां है? स्वर्ग कहां है? परमानन्द कैसा होता है?' और, अपने-आपको अनन्त भ्रान्ति में खो देता है।"

शरीर, आत्मा और परमात्मा का पारस्परिक संबंध बताने की पद्धतियों में भेद है। परमात्मा हमारी समझ में नहीं आता, इसलिए हमारे महान आचार्यों ने निरूपण की अनेक पद्धतियों का अवलंबन किया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

आत्मा शरीर को जीवित शरीर का गुण प्रदान करता है। परमात्मा जीवात्मा को दिव्य तेज देता है। जीवात्मा शरीर में प्राणों का पोषण करता है। परमात्मा जीवात्मा के दैवी स्वभाव का पोषण करता है। जिस प्रकार इस मर्त्य जीवन में शरीर और आत्मा एक सुखमय साम्राज्य में रह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा के सुखमय साम्राज्य में रहे और उसमें कोई अपूर्णता, अज्ञान अथवा अन्यमनस्कता न हो, तो वही मोक्ष है। परमात्मा का यह साम्राज्य प्राप्त करने के लिए जीवन की पवित्रता तथा आत्मसंयम आवश्यक है।

इसे हम दूसरी दृष्टि से भी समझ सकते हैं। जीवात्मा परमात्मा की छाया-मात्र है। अज्ञान छाया का और इस धारणा का कारण है कि छाया अपने आपको उत्पन्न करनेवाले से भिन्न है। पार्थक्य का यह भाव कामना, आसक्ति, क्रोध और द्वेष से उत्तरोत्तर बढ़ता है। मन के जाग्रत होने पर दोनों एक में मिल जाते हैं।

सूर्य जल पर चमकता है। जब जल में लहरें उठती हैं तो हमें उसमें अनेक छोटे छोटे सूर्य दिखलाई पड़ते हैं। जीवात्मा जल में सूर्य के प्रतिबिम्बों के समान हैं। जल न हो तो प्रतिबिम्ब भी न होंगे। इसी प्रकार अज्ञान के मिटने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है। अज्ञान मिटाने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए पवित्रता, आत्म-निग्रह, भक्ति और विवेक की आवश्यकता होती है।

जिस तरह रात्रि को सो जाने पर पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा में विलुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयुक्त आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है।

विभिन्न मतों—द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के दार्शनिकों ने उपर्युक्त तथा अनेक अन्य प्रकारों से विषय का प्रतिपादन किया है। उनकी विवेचन-पद्धति में अन्तर भले ही हो, परन्तु उन सबने एक ही वेदान्त-सम्मत जीवन का निर्देश किया है। और वेदान्त-सम्मत जीवन ही मोक्ष का मार्ग है। वेदान्त के सब मतों का निष्कर्ष एक ही नीति-शास्त्र है और इससे सब वेदान्ती एक ही विचारधारा में आबद्ध हो जाते हैं।

अध्याय १

वेदान्त का नीतिशास्त्र

जीवात्मा और परमात्मा का संबंध समझ लेने पर हमारे मन में विभिन्न प्राणियों के बीच भिन्नता का भाव नहीं रह जाता। भिन्नता के भाव से मुक्त होना जानकारी प्राप्त करने की क्रिया नहीं है, वरन् अवस्था का परिवर्तन है; निद्रा से जाग्रत होने के समान है। एक मनुष्य स्वप्न देखता है। वह स्वप्न में जो कुछ देखता है उससे उसे संताप होता है। वह इस संताप से कैसे बच सकता है? परिहार का एक ही मार्ग है—वह निद्रा से जाग जावे और समझ ले कि मैं स्वप्न देख रहा था। इसी तरह, हमें आत्मा को मोह में डालनेवाली भिन्नता के भाव से जागना चाहिए और अपने दुःखों से अपने आप को मुक्त कर लेना चाहिए। इसीलिए उपनिषद् कहते हैं—"उत्तिष्ठत! जाग्रत! उत्तिष्ठत!"

अतएव यह अनुभव करना कि परमात्मा हमारे अन्दर है, अवस्था का वैसा ही परिवर्तन है, जैसा कि निद्रा से जागना। वह किसी से पूछ लेने भर से जानने योग्य ज्ञान-मात्र नहीं है—ऐसा कुछ नहीं है, जैसे कि कोई देखनेवाला बता दे कि पास के कमरे में कोई व्यक्ति मौजूद है।

निद्रा से जागना सरल है। परन्तु सांसारिक जीवन की घोर निद्रा से जागना सरल नहीं है। हमारी मानसिक वृत्ति पूर्णतया बदलनी चाहिए। सब से पहले, जागने की इच्छा हृदय में व्याकुलता उत्पन्न कर दे। दूसरे, निरन्तर सतर्क रहा जाये। यह सतर्कता वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि रस्सी पर खेल दिखलाने वाले नट की होती है; एक बार रस्सी पर अपना

तोल माप लेने के बाद वह उस पर भी नहीं रुकता। आन्तरिक और बाह्य शुद्धि का नियंत्रण, उचित आचार का तब तक दृढ़ता से पालन जब तक कि वह स्वाभाविक न बन जाये, और अपने आत्मा को पवित्र तथा निर्मल अवस्था में रखना अनिवार्य है। भेद-भाव के जगत् में फिर आ पड़ने से अपनी रक्षा करने के लिए अपने मन पर सदा चौकसी रखना आवश्यक है।

अज्ञान से प्रेरित होकर हम अस्थायी सुखों को खोजने और उन्हें प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय करते हैं। यदि हम उन्हें नहीं पाते या कुछ समय के लिए पाने के बाद उनसे फिर वंचित हो जाते हैं, तो हमारे हृदय में क्रोध, द्वेष और दुःख उत्पन्न होता है। उससे हमारा मूल अज्ञान और भी बढ़ता है। इससे "मैं", "मेरा", और "मेरे लिए", आदि अहंकार की भावनाएं तथा मनोविकार उत्पन्न और प्रबल होते हैं। इस प्रकार हम सत्य से उत्तरोत्तर दूर होते जाते हैं। इस मार्ग से विमुख रहना और सत्य के अधिकाधिक निकट पहुंचने का निश्चित प्रयत्न करना मोक्ष का मार्ग है। पवित्रता और विनम्रता आवश्यक है। हमें अपने मन में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि परमात्मा हमारे अन्दर और हमारी चारों ओर विद्यमान है। साथ ही, समस्त जीवन की एकता पर मनन करने में सचाई के साथ चित्त लगाना चाहिए। विश्व की इसी एकता के संबंध में दक्षिण के राष्ट्रीय कवि भारती ने गाया है :

> "काक और गौरैया मेरे सगे-सहोदर हैं, विस्तीर्ण समुद्र और पर्वत मेरे समाज हैं। जो कुछ भी मैं देखता हूं, जहां कहीं भी मेरी दृष्टि जाती है, वह सब मेरे ही बन्धु-बांधव हैं, स्वयं मैं हूं। अहा! यह असीम आनन्द।"

यदि पूर्ण प्रकाश की उपलब्धि न हो, तो भी प्रयत्न में

शिथिलता नहीं आनी चाहिए। सत्य का आंशिक साक्षात्कार होने पर भी हमें बहुत लाभ होगा। प्रयत्न ही बहुत हद तक हमारे दोषों का निवारण कर देगा, और सदाचार में तथा अनेकानेक पाप-कृत्यों से बचने में हमारा सहायक होगा। विश्व की एकता का अनुभव करने का मानसिक प्रयत्न ही हमें उच्चतर स्तर पर उठा देगा।

अध्याय १०

कर्म-विधान

शरीर एक उपकरण, सुन्दर उपकरण, जादू भरा उपकरण है, जिसके साथ उसका स्वामी आत्मा विलक्षण रीति से अभिन्न हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का उपकरण है। परमात्मा उसके अन्दर निवास करता है और उसका उपयोग करता है—किस हेतु से और क्यों, सो हम न जान सकते हैं और न कह सकते हैं। यह एक रहस्यमय संबंध है, जिसमें कि उपकरण और उसका उपयोगकर्ता दोनों अचिन्त्य रूप से आबद्ध हैं। शरीर और उसकी सूक्ष्म इंद्रियों को अपने स्वामी आत्मा के प्रति निष्ठाहीन नहीं होना चाहिए, वरन् अच्छे उपकरणों के रूप में उसके काम आना चाहिए। इसी भांति, व्यक्ति को भी परमात्मा का, जो उसके अन्तस् में निवास करता है, अच्छा और विश्वस्त उपकरण बनना चाहिए और प्रत्येक कर्म, विचार और वाणी उसे समर्पित करनी चाहिए।

कर्म शरीर, वाणी और मन से किये जाते हैं। प्रत्येक कर्म का नियत परिणाम होता है। कारण-कार्य विधान अपरिवर्तनीय है। परिणाम कारण में वैसे ही निहित रहता है, जैसे बीज में वृक्ष। पानी को सूर्य सुखा देता है। यह अन्यथा नहीं हो सकता। उष्णता और पानी के मिलने से परिणाम होगा ही। यही बात सब के साथ है। परिणाम कारण के गर्भ में रहता है। यदि हम गंभीरता से विचार करें, तो सम्पूर्ण जगत् अपने विविध अंगों में, कर्म के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार विकसित होता दिखलाई पड़ेगा। वेदान्त में कर्म के इसी सिद्धांत

का निरूपण किया गया है। कर्म पर भाग्यवाद की दृष्टि से विचार करना गलत है। वेदान्त में भाग्य का जैसा विवेचन किया गया है, उसके अनुसार, उसमें कर्म-त्याग और प्राकृतिक नियमों पर श्रद्धा का भंग निहित नहीं है। कर्म पूर्व-कारणों का परिणाम है; वह परिणाम का अटल नियम है। पश्चिम के मूर्ति-पूजामूलक दर्शनशास्त्रों से जिस भाग्यवाद का उदय हुआ है उससे वेदान्त का यही अन्तर है।

जब कोई हिन्दू भाग्य-लेख की बात करता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को केवल अपने कर्मों के फल की अपेक्षा करनी चाहिए। कोई कर्म व्यर्थ या परिणामहीन नहीं हो सकता। कर्म करना और उसके परिणाम से बच जाना, या किसी ऐसे परिणाम की आशा करना जो किसी दूसरे कर्म से हो सकता है, संभव नहीं है। निश्चित कर्मों का उनके अनुरूप परिणाम होना अनिवार्य है। इस प्रकार, कर्म के विधान से सच्चा कर्म-स्वातंत्र्य उत्पन्न होता है।

हम मन, वाणी और शरीर से कर्म करते हैं। हमारे विचार, वाणी और कर्म—सब अपना अपना फल देते हैं। उनके फल से बचा नहीं जा सकता।

जब कोई वेदान्ती कहता है कि प्रत्येक घटना कर्म के अनुसार होती है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान और मानवीय प्रयत्न व्यर्थ हैं और मानवीय कर्मों का कोई महत्व नहीं है। कवि भारती ने यह बताते हुए कि कर्म-नियम भाग्यवाद नहीं है, कहा है: "हां, मैं मानता हूं कि यह विधि है। यह न्याय की विधि है कि अज्ञानी को आनन्द प्राप्त नहीं होता। यह न्याय की विधि है कि आरोग्य के नियमों की उपेक्षा करने से रोगों की यातनाएं सहनी पड़ती हैं।" उद्योग और आचार का

पुरस्कार मिलेगा ही और कर्म-विधान रूपी अधिकार-पत्र उस पुरस्कार को सुरक्षित रखता है।

प्रत्येक घटना का कारण तो होता ही है, परन्तु किसी घटना के कारण को न समझने पर हम उसे भाग्य का फेर अथवा संयोग का परिणाम मानने लगते हैं। परन्तु इस नामकरण का अर्थ परिणाम से दुःखी होने और कारण खोज निकालने में अपने बुद्धि-प्रयोग की असफलता स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भाग्य के लिए साधारणतः उपयोग में आनेवाले शब्द "अदृष्ट" का अर्थ "जो दिखलाई नहीं पड़ता" होता है। वास्तव में, उसके बारे में इतना ही सच है। उसका यह अर्थ नहीं होता कि वह नियम के अधीन नहीं है; वह केवल पहले देखा नहीं गया।

हम किसी सिद्धांत की सहायता के बिना भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक अच्छे या बुरे विचार अथवा कर्म का हमारे ऊपर तुरंत परिणाम होता है। यह परिणाम दूसरों पर अथवा बाह्य जगत् पर होनेवाले परिणाम के अतिरिक्त होता है। कोई चाहे या न चाहे, उसके मन की प्रत्येक वृत्ति उसके चरित्र पर अमिट छाप डाल देती है और उसके चरित्र का विकास उसी के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि मैं आज बुरा विचार करूं, तो कल अधिक तत्परता और आग्रह से वैसा करूंगा। यही बात अच्छे विचारों के बारे में भी है। यदि मैं आत्म-निग्रह करता हूं या शान्त होने का प्रयत्न करता हूं तो अगली बार वह क्रिया अधिक स्वयं-स्फूर्त, अधिक सरल हो जायगी। यह क्रम उत्तरोत्तर प्रगतिपूर्वक जारी रहता है।

हिन्दू विचारधारा के अनुसार, इस जीवन में मनुष्य के विचारों, कार्यों और पश्चात्ताप से उसका जो चरित्र बन जाता है वह शरीर का अन्त होने पर आत्मा के साथ संलग्न रहता है और

उसकी दूसरी जीवन-यात्रा में आरंभ से ही उसका साथी होता है। पूर्वजन्मों के कर्म, विचार और आसक्तियों के फल-स्वरूप हम कुछ निश्चित स्वाभाविक वृत्तियों के साथ नया जन्म ग्रहण करते हैं। भूत और भविष्य के जीवनों के और अनेक जीवनों में विकास का क्रम जारी रहने के सिद्धांत पर विश्वास ही कर्म के संबंध में भ्रम उत्पन्न करनेवाला है।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण से, कार्य के संबंध में कोई स्पष्टीकरण अथवा उपपत्ति कठिनताओं या आपत्तियों के परे नहीं हो सकती। परन्तु अमर आत्मा को व्यक्तित्व का आधार मानने पर हिन्दू कर्म-सिद्धांतकी अपेक्षा प्रकृति के नियमों के अधिक अनुकूल कोई अन्य उपपत्ति स्थापित नहीं की जा सकती। मनुष्य ठीक अपने कर्मों के अनुसार ही अपना विकास करता है। विकास का क्रम मृत्यु से भंग नहीं होता, वह दूसरे जीवन में जारी रहता है। हिन्दू धर्म का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत शक्ति-संचय-नियम के नैतिक क्षेत्र में कार्यान्वित है। वास्तव में इन दोनों को एक ही नियम के दो अंग मानना चाहिए। कर्म आध्यात्मिक जगत् में संचय का नियम है। कारण और कार्य समान होना ही चाहिए। मृत्यु से शरीर का, न कि आत्मा का अन्त होता है। अतएव, जहाँ तक आत्मा का संबंध है, कारण और कार्य का नियम शरीर का अन्त हो जाने के बाद भी कार्यान्वित रहता है। शरीर की मृत्यु से मनुष्य दिवालिया नहीं बनता। पुराना हिसाब आगे के जीवन में जारी रहता है।

छोटे से छोटा कंकड़ फेंकने से भी पानी में लहर उठ आती है। वह लहर गोल-गोल घेरों में बराबर फैलती जाती है। हमारे सब विचारों और कार्मों का भी ऐसा ही परिणाम होता है। मन में उत्पन्न हुआ अत्यन्त सूक्ष्म और गुह्य विचार भी

विश्वशांति को प्रक्षुब्ध कर देता है और उस क्षोभ को शान्त करना आवश्यक होता है।

मनुष्य जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है उस के अनुसार उसके पूर्वकर्मों के बंधन घटते या बढ़ते हैं। परन्तु आत्मा स्वाभाविक वृत्तियों पर विजय पाने और मुक्ति के लिए प्रयत्न करने में समर्थ है।

"मन ! विजय निश्चित है; मिथ्या भय को त्याग दे। भक्ति अवश्य फल देगी। हमारे कंधे किसी भी काम के लिए सुविशाल और सुपुष्ट हैं। हमारी बुद्धि उचित इच्छा-पूर्ति के साधन निर्मित और एकत्रित करने में समर्थ है। अपरिवर्तनीय नियम अपना काम करता ही है। इसलिए, तू मिथ्या भय को त्याग दे।"

आधुनिक तमिल कवि ने वेदान्त में प्रतिपादित मोक्ष-मार्ग के संबंध में उपर्युक्त आशय का अनुपम गीत गाया है। नियम मोक्ष को सुरक्षित करता है, न कि उससे वंचित करता है।

अध्याय ११

वेदान्ती का जीवन

गीता वेदान्त के नीतिशास्त्र का विस्तार और विवेचन करती है। वह ज़ोर देती है कि जगत् का कार्य चलता ही रहना चाहिए। हमें इस प्रकार काम करना चाहिए कि उससे आनेवाली पीढ़ियों का सुधार अनिवार्य हो जावे। भले मनुष्य जिस प्रकार अपने बच्चों और बच्चों के बच्चों के लिए वृक्षारोपण करते हैं उसी प्रकार हमें—विभिन्न जन्मों की स्मृति में तारतम्य और व्यक्तित्व में एकता न रहने पर भी—दूसरे जन्मों के लिए अपना सुधार करके मानव-जाति का सुधार करना चाहिए। अन्यथा संसार उत्तरोत्तर भला नहीं बन सकता, जैसा उसे बनाने के लिए हम सब को प्रयत्न करना चाहिए। साधु पुरुष को अपने को सौंपे गये कर्म और अपनी सामाजिक स्थिति से संबंध रखनेवाले कर्तव्य करना ही चाहिए। वह अपने सब कार्य बाहरी रूप में दूसरों के समान ही करता है परन्तु अन्दर से उनके प्रति निर्लिप्त रहता है। वह प्रत्येक कार्य स्वार्थ के उद्देश्य से रहित होकर करता है। सफलता और असफलता, सुख और दुःख तथा आनन्द और अनुताप में वह मन का समत्व कायम रखता है। इस प्रकार परिशुद्ध होकर, साधु पुरुष ध्यान और प्रार्थना द्वारा अधिक उन्नति के योग्य बनता है। सांसारिक उलझनों के बीच इस प्रकार का समन्वित जीवन व्यतीत करना ही योग है। कर्म कर्तव्य की भावना से करना चाहिए और परिणामों से मन को प्रक्षुब्ध नहीं होने देना चाहिए। जब हम अपने जीवन के कार्यों में बहुत अधिक व्यस्त हों तब भी यह निःस्वार्थ और अलिप्त भाव विकसित किया जाना चाहिए।

इस भाव की सतत साधना ही वेदान्त-सम्मत जीवन का सार है।

ईशावास्य उपनिषद् इस प्रकार प्रारंभ होता है :

"विश्व की प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। यह भली भांति अनुभव करो और अपना प्रत्येक कर्म उसे समर्पित करो। मन में उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं का, दूसरे के भोग की वस्तु को प्राप्त करने के विचार का, त्याग करो। आनन्द कामना के इसी प्रकार के त्याग से प्राप्त होता है। अपना कर्म करो और अपने जीवन की नियत अवधि पार करो। अलिप्तता और समर्पण से ही आत्मा को अदूषित रखा जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

गीता की शिक्षा का संक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है :

"वेदान्ती सदैव स्मरण रखता है कि मेरे अन्दर और जगत् की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का निवास है। वह अपने मन में काम, क्रोध और लोभ को आश्रय नहीं देता। वह जन्म, घटनाओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप अपने ऊपर आनेवाले या अपनी सामाजिक स्थिति से उत्पन्न होनेवाले सब कर्तव्यों को पूर्ण सावधानी के साथ और सदसद्विवेकबुद्धिपूर्वक, परन्तु अनासक्त होकर करता है। वस्तुतः, किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों या समूहों के लिए नियत कर्मों में उच्च-नीच भाव नहीं है। सब काम समाज के पोषण और कल्याण के लिए समान रूप से आवश्यक है। वह सब निःस्वार्थ सहकार की भावना से किये जाने चाहिए, जिससे सब काम उदात्त और समान बनते हैं।

"वह अपनी इंद्रियों को नियंत्रित करके शुद्ध जीवन व्यतीत करता है और अपने काम, भोजन, विश्राम, आमोद-प्रमोद तथा निद्रा को नियमित कर लेता है।

"कठिनताओं के सामने वह हतोत्साह नहीं होता, और

सुख प्राप्त हो या दुःख, अपना साहस और मानसिक समत्व कायम रखता है।"

चरित्र की इस नियमावली से चकित होकर कोई ऐसा विचार न करे कि यह साधारण व्यक्तियों के, जो सन्त या ऋषि-मुनि नहीं हैं, किसी उपयोग की नहीं है।

"इस दिशा में थोड़ा-सा प्रयत्न भी अच्छा फल प्रदान करेगा। इसमें अपव्यय नहीं है। यह औषधियों के नियम के समान नहीं है, जिसके अनुसार यदि उचित पथ्य न किया गया, तो न केवल औषधि गुण न करेगी, वरन् अवगुण भी कर सकती है। त्रुटियों और अपूर्णताओं से कोई भय नहीं है। यदि इस शिक्षा का पालन थोड़े प्रमाण में भी किया गया, तो उससे बहुत लाभ होगा।"*

प्रश्न किया जा सकता है, कोई बात भविष्य के जन्म में फलदायी होगी, यह कहने से उत्साह कैसे उत्पन्न हो सकता है? हम आगामी जीवन में पूर्वजन्म की स्मृति के बिना उत्पन्न होंगे। हमें अपने पूर्वजन्मों के संबंध में अभी कुछ स्मरण नहीं है, न इस जीवन की स्मृतियां आगामी जीवन में रहेंगी। इसलिए, हम अच्छे काम करें या बुरे, उससे क्या? हमें वर्तमान समय के सुख भोग लेना चाहिए। यदि मैं पुनः उत्पन्न हुआ तो मैं एक भिन्न व्यक्ति हूंगा और मुझे इस समय की कोई स्मृति न रहेगी। मेरे और उस व्यक्ति के बीच में क्या संबंध है? स्मृति के तारतम्य के बिना हम दोनों एक कैसे हो सकते हैं? उसके लिए मैं श्रम क्यों करूं? मृत्यु के साथ इस जीवन की स्मृतियों का अन्त हो जाता है। भावी जन्म के उद्देश्य से इस जन्म में सदाचार और आत्मसंयम की साधना करने की वेदान्त की शिक्षाओं

* गीता २—४०।

के सम्बन्ध में सुखान्वेषी इस प्रकार की आपत्ति कर सकता है।

परन्तु आत्मा को जो एक प्रकार की भूख होती है, वह स्वार्थपूर्ण और क्षणिक सुख से शान्त नहीं हो सकती। मनुष्य का स्वभाव है कि उसे सदाचार से आनन्द होता है। यह हम में से प्रत्येक की आन्तरिक भावनाओं के अनुभव से और समस्त लिखित तथा अलिखित इतिहास से पुष्ट हो चुका है। परिवार के सदस्य परिवार तथा ग्राम के हित के काम करते हैं। हम साधारण मनुष्यों को दूसरों के लिए, जिन्हें उन्होंने कभी देखा भी नहीं, केवल इस कारण से कष्ट सहते हुए देखते हैं कि, वे उनके ही स्थान के निवासी हैं। मनुष्य अपने ग्राम या नगर के हित से उदासीन रह कर हाथ बांधे बैठे नहीं रहते। हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वार्थ का बलिदान करके अपने राज्य की भलाई और देश की कुशलता के लिए कष्ट सहते हैं। हम नहीं जानते कि सड़कों के किनारे के वृक्षों की छाया का आराम किसे मिलेगा, फिर भी हम उन्हें लगाते हैं, कि भावी पीढ़ियों के लोग उनका सुख प्राप्त करें। इस प्रकार के सब कामों में हम आनन्द का अनुभव करते हैं। हमें इस उदारता की अधिक वृद्धि करनी चाहिए और समस्त जगत् के हित तथा भावी सुख का विचार करना चाहिए।
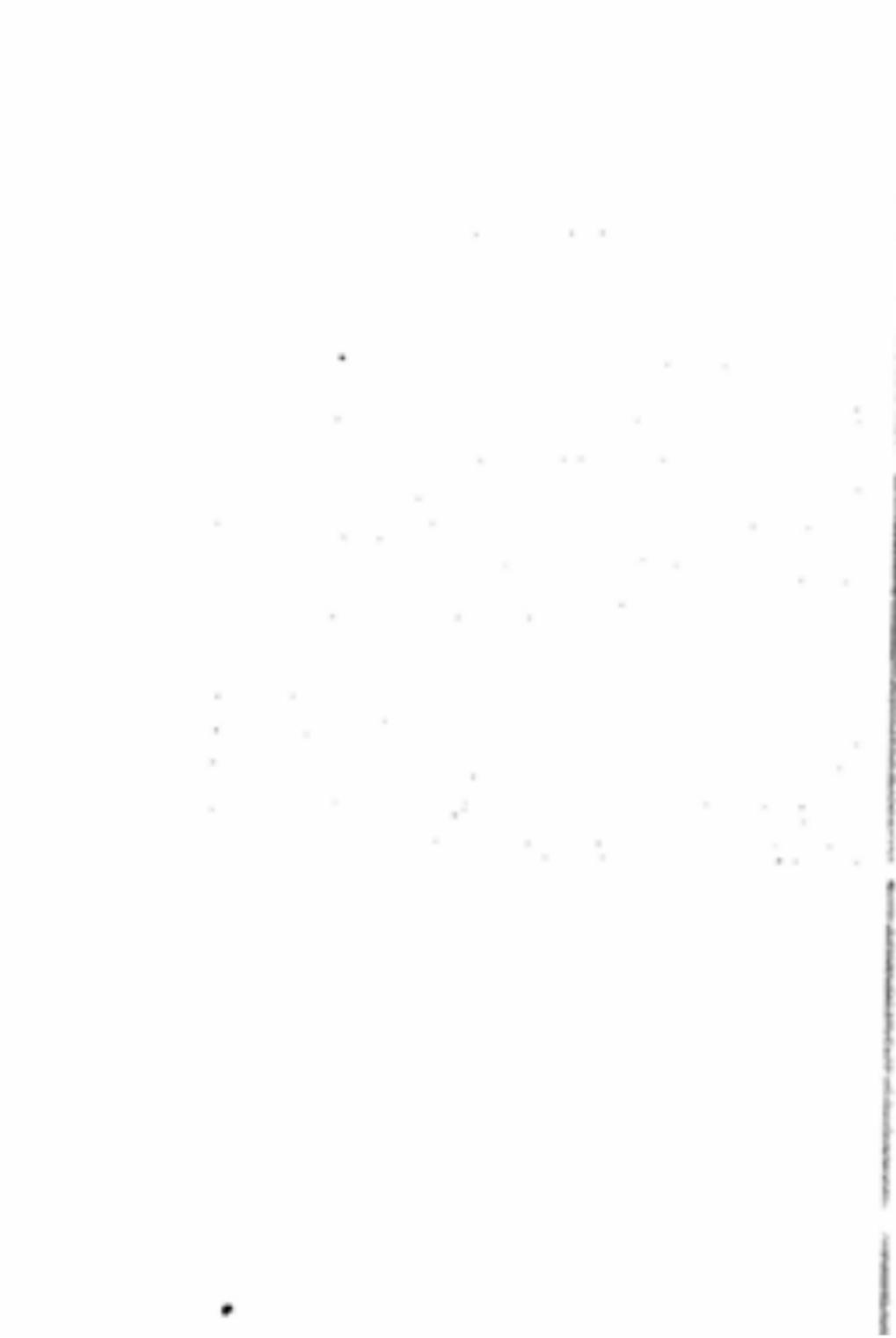
कार्य-कारण विधान और भावी जन्मों पर उसके विस्तार के अनुसार, यदि हम वेदान्त-सम्मत जीवन व्यतीत करें तो दोषों की वृद्धि बन्द हो जायेगी और भावी जगत् में निवास करनेवाले आत्मा उत्तरोत्तर उन्नति करते जायेंगे। अतएव, सदाचार का उद्देश्य दुहरा है—स्वयं अपना सुख, और स्मृति का तारतम्य न रहने पर भी संसार की उन्नति में अपना योग। वेदान्त के अनुरोध का आधार भावी जगत् संबंधी उत्तरदायित्व है। सामाजिक और नागरिक सहकार से मनुष्य के अपने ग्राम

या नगर का स्थायी लाभ होता है। देशभक्ति हमारी भावी पीढ़ियों को लाभ पहुंचाती है। वेदान्त का उद्देश्य भावी जगत् का, जिसके हम सब वर्तमान निर्माता हैं, कल्याण करना है। यदि हम अनासक्त और समर्पित जीवन व्यतीत करें तो, जैसे जैसे समय बीतता जायेगा, संसार में अधिक साधु मनुष्यों का वास होता जायेगा। विहित आचार के लिए, भावी जीवन में स्मृति का तारतम्य कायम रहने की अपेक्षा केवल वही करेंगे, जो अपनी स्वार्थवृत्ति का त्याग नहीं कर सकते।

अध्याय १२

उपसंहार

वेदान्त यही है। संभव है, ऐसा मालूम पड़े कि हम कहीं कहीं शुद्ध रहस्यवाद में भटक गये हैं, जिसका सामाजिक सदसद्विवेकबुद्धि से कोई संबंध नहीं है। परन्तु सदसद्विवेक-बुद्धि की जड़ों को गहरे प्रविष्ट होकर जीवन पर इस प्रकार अधिकार कर लेना चाहिए कि हमारे सूक्ष्मतम विचार सदाचार को स्वयंस्फूर्त बना दें। सदाचार हवा में झूलता नहीं रह सकता। परमसत्य की लालसा सच्चे लोगों को रहस्यवाद की ओर खींच ले जाती है। विज्ञान विश्व के जिस आतंक और सौन्दर्य का निरन्तर उद्घाटन कर रहा है उसमें मग्न मनुष्यों को परमात्मा में असंस्कृत मानव-रूपारोपण से संतोष नहीं हो सकता— वेदान्त में निहित रहस्यवाद अच्छे जीवन का संबंध सत्य और विज्ञान के साथ जोड़ता है और संघर्ष के स्थान पर सुसंगति तथा समन्वित विचार की प्रतिष्ठा करता है।

उपनिषद्-सूक्त

उपनिषद्-सूक्त

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है। सब भूत मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं—ऐसा भी कहा जा सकता है। मेरा योगबल तू देख। मैं सब भूतों का मूल और आधार होता हुआ भी उनमें स्थित नहीं हूं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

अपनी प्रकृति के द्वारा मैं भूत समुदाय को बारंबार उत्पन्न करता हूं और उसे प्रकृति पर अवलम्बित रखता हूं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

मेरी साम्राज्य-योजना में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और जगत्-चक्र को घुमता रखती है।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

भगवद्गीता, अध्याय ९।

हितकारी वस्तु (श्रेय) एक है और सुखकारी (प्रेय) दूसरी। इन दोनों से बिल्कुल भिन्न फल प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान पुरुष सुखकारी के आकर्षण के धोखे में नहीं पड़ते। वे हितकारी को पसन्द करते हैं। मूर्ख निरे सुखकारी के जाल में फंस कर नष्ट हो जाते हैं।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

—कठोपनिषद्।

आत्म-साक्षात्कार मोक्ष का मार्ग है। मनुष्य को अपने अन्तर्निवासी परमात्मा पर चित्त एकाग्र करके अपने आत्मा के दिव्य स्वभाव और उसकी मूल स्वतंत्रता को समझना चाहिए। परमात्मा मनुष्य के अन्तर् में स्थित है। वह हर्ष तथा शोक की उलझनों और सांसारिक विषयों में आसक्ति के कारण दिखाई नहीं पड़ता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

—कठोपनिषद्।

साक्षात्कार तभी हो सकता है, जबकि मनुष्य के हृदय के अन्दर से निश्चय की पवित्रता और भाव की सचाई प्रस्फुटित होने लगती है। बहुत अध्ययन से अथवा विद्वत्तापूर्ण चर्चाओं से उसकी उपलब्धि नहीं होती। वह उसे उपलब्ध होता है, जिसका आत्मा उस के लिए व्याकुल हो उठता है और जिसके मन ने बुराई छोड़ दी है, अपने को वश में रखना सीख लिया है और अपने आप को जगत् के संघर्षों से मुक्त कर के शान्ति की प्राप्ति कर ली है।

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य–
> स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
>
> —कठोपनिषद्।

मन के द्वार, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं। इसीलिए मनुष्य के विचारों की प्रवृत्ति भी सदैव बाहर की ओर रहती है। परन्तु जिन थोड़े से लोगों को सच्चा ज्ञान होता है, वे अपने मन को अन्तर्मुख करके अपने अन्तःस्थित आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। अज्ञानी लोग बाह्य सुखों के पीछे दौड़ते और जन्म-मरण के विस्तृत जाल में फंस जाते हैं। स्थिर मनवाले मनुष्य क्षणिक सुखों का चिन्तन नहीं करते। वे मोक्ष का आनन्द खोजते हैं।

> पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः
> तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
> आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

—कठोपनिषद् ।

पर्वत-शिखर पर बरसनेवाला जल अनेक धाराओं में विभाजित होकर पर्वत की चारों दिशाओं में बहता है। इसी प्रकार, अज्ञानी पुरुष एक के अनेक रूप देखता है और शिखर पर गिरनेवाले जल के समान भ्रांत हो जाता है। पानी में डाला हुआ पानी उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। यही बात ज्ञानी के आत्मा के संबंध में भी है, जो अनेक रूपों में एक रूप का दर्शन करता है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥

—कठोपनिषद् ।

आत्मा शरीर में उसी तरह स्थित है, जैसे अग्नि काष्ठ में अप्रकट रूप से स्थित रहती है। अग्नि ईंधन के अनुसार रूप ग्रहण करती है। जहां कहीं भी वह प्रकट होती है, उसके अनुसार, कभी दीपक की लौ, कभी भट्टी की अग्नि और कभी दावानल का रूप धारण करती है। स्वयं अग्नि वही है, एक ही है। इसी प्रकार आत्मा भी एक ही है, यद्यपि विभिन्न शरीरों में स्थित होने के कारण वह अनेक प्रतीत होता है। जो यहां है वह वहां है; जो वहां है वह यहां है; अर्थात् वस्तुएं

और प्राणी अनेक दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वस्तुतः वे सब एक ही परमात्मा हैं। इस एकता का दर्शन कर लेने पर हम मुक्त हो जाते हैं। परन्तु यदि हम अन्तर देखते हैं तो हम मृत्यु से मृत्यु में फंसते जाते हैं। ज्ञान के ही द्वारा मन भेद-दृष्टि पर विजय प्राप्त करके अन्तर्भूत एकता का दर्शन कर सकता है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

—कठोपनिषद्।

विश्व की प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। इसका भली भांति अनुभव करो और अनुभव करने के पश्चात् दूसरों के भोग की वस्तु को प्राप्त करने का विचार त्याग दो। आनन्द कामनाओं और आसक्तियों के त्याग से ही प्राप्त होता है। अपने जीवन के नियत वर्ष अनासक्त भाव से कर्म करते हुए और प्रत्येक वस्तु परमात्मा को समर्पित करके व्यतीत करो। केवल इस प्रकार ही हम कर्म के दोष से बच सकते हैं।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

—ईशावास्योपनिषद् ।

जो सोचता है कि मुझे सच्चा ज्ञान है, वह उसी के द्वारा अपना अज्ञान सिद्ध करता है। जो अनुभव करता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता उसने उसे सब से भली भाँति जाना है। जो लोग उसे साधारण ज्ञान की वस्तुओं के समान जानने का प्रयत्न करते हैं, वे अपने लक्ष्य में कभी सफल नहीं हो सकते। जो परमात्मा के ज्ञान के संबंध में मानवीय मानस की मर्यादा का अनुभव करते हैं और उसके द्वारा निष्कपट भाव से अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं, वे वास्तव में उसके सच्चे ज्ञान के अधिक निकट हैं।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं ॥
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु
मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

यस्यामतं तस्य मतं
मतं यस्य न वेद सः ॥
अविज्ञातं विजानतां
विज्ञातमविजानताम् ॥

—केनोपनिषद् ।

मनुष्य अपने आत्मा की दिव्यता का साक्षात्कार करे। इसी के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है। परब्रह्म विश्व का धारण करता है और विश्व व्यक्त और अव्यक्त, नश्वर और अनश्वर की एकता पर निर्मित हुआ है। इन्द्रियों के द्वारा भोक्तृत्व में

प्रवृत्त होकर मनुष्य का अन्तर्निवासी आत्मा अपने स्वामित्व का ज्ञान खो देता है और बंधन में जकड़ जाता है। जब वह स्वामित्व का अनुभव करता है, तब प्रत्येक बंधन से मुक्त हो जाता है।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्।

ईश्वर आत्मा पर और आत्मा की प्रवृत्ति का क्षेत्र बनने वाली भौतिक प्रकृति पर भी शासन करता है। मनन और पुनः पुनः ध्यान से इन तीनों—ईश्वर, प्रकृति और आत्मा—की एकता का साक्षात्कार होता है। तब मनुष्य जगत् की समस्त माया से मुक्त हो जाता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
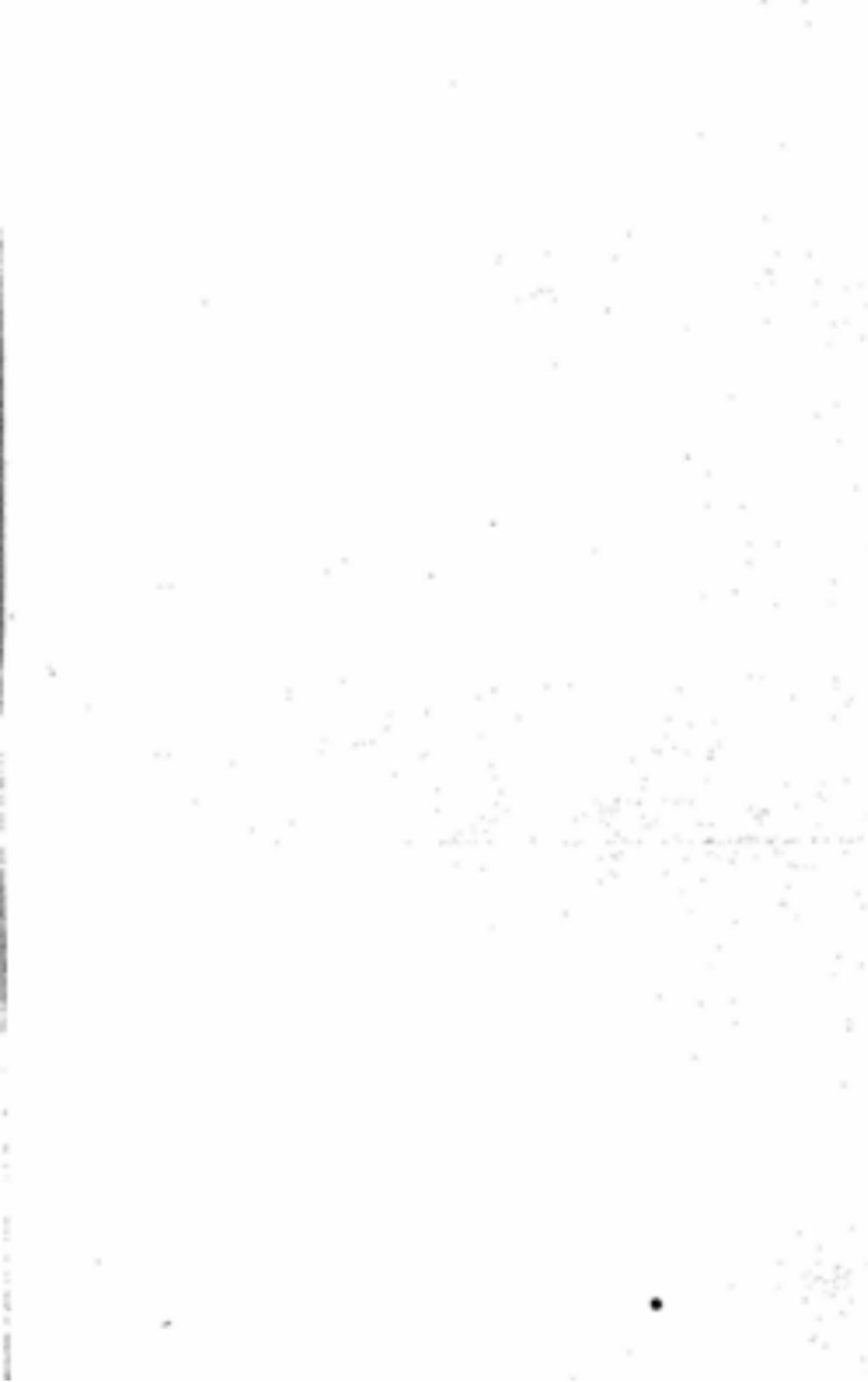
—श्वेताश्वतरोपनिषद्।

अग्नि जब अपने जन्मस्थान इंधन में छिपी रहती है तब वह अपने प्रकट रूप में दिखलाई नहीं पड़ती। परन्तु जब हम उसे बाहर निकालते हैं, तो वह प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार, ध्यान परमात्मा को हमारे अन्दर से, जहां उसने अपने-आप को छिपा रखा है, प्रकट करता है। वह परमात्मा हमारे अन्दर तिलों में तेल के समान, दूध में छिपे हुए घी के समान,

नदी की रेत में छिपे हुए जल के समान, अरणि में छिपी हुई अग्नि के समान प्रकट न होने पर भी निवास करता है। जब अरणि में इंधन के दो टुकड़ों का घर्षण किया जाता है, अग्नि प्रकट हो जाती है। दूध का दही बना कर उसका मंथन करने से नवनीत अलग हो जाता है। नदी की रेत में गड्ढा खोदने से पानी दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य के अन्तस् में छिपा हुआ परमात्मा भी सत्य, ध्यान और मन तथा इंद्रियों की निग्रहरूपी साधना से प्रकट होगा। मनुष्य अपने शरीर को नीचे की अरणि और ज्ञान को ऊपर की अरणि बनावे और ध्यान के द्वारा उसका मंथन करके अग्नि को प्रकट करे।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न
दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा
प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्यान निर्मथनाभ्यासात्
देवं पश्येन्निगूढवत् ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः
स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्।

उपनिषदों, गीता और शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के भाष्यों का अध्ययन किया है, वे अनुभव करेंगे कि इस पुस्तक में की हुई वेदान्त की व्याख्या मूल ग्रंथों की दृष्टि से उतनी ही प्रामाणिक और ज्ञानवर्धक है, जितनी कि शैली में सरल और स्वाभाविक।

इस युग में, जब कि विपत्तिग्रस्त संसार अपनी सामाजिक व्यवस्था की नष्टप्राय नौका के भग्नावशेषों में उलझा हुआ एक ध्रुव तारे और जीवन के वास्तविक मानचित्र की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है, वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्तों की इस [illegible] व्याख्या पर अधिक से अधिक [illegible]
मन[illegible]
रा[illegible]
करे[illegible]
ऐतिहासिक संयोग-मात्र हैं; केवल [illegible] है। उस विकास-क्रम का एक अवयव सदा मनुष्य रहा है। सभ्यता और समाज-व्यवस्था उसका एक पहलू है और यदि इस पहलू को चिरस्थायी रखना है तो इसका कमार सनातन सत्य की आधारशिला पर ही होना चाहिए; क्योंकि, जैसा उपनिषदों में कहा गया है, असत्य से किसी स्थायी वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता।
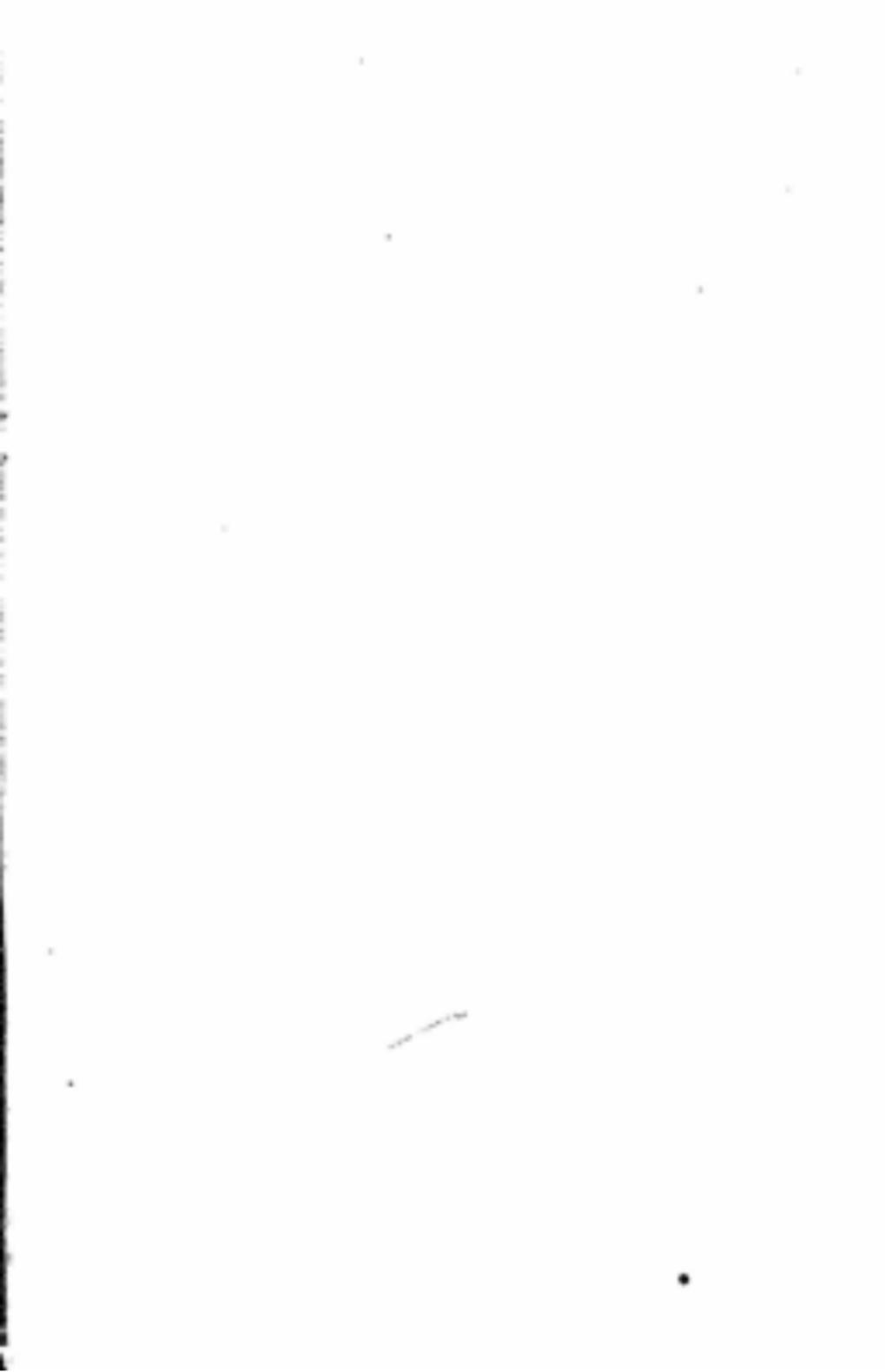
हिन्दुस्तान टाइम्स

नई दिल्ली